महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिप्रसादित

अध्यात्मप्रसाद

संकलनकर्त्ता

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

(श्रीमान् महा० चिरञ्जीलाल जी वानप्रस्थ

ने

इसके प्रकाशन का सब व्यय दिया)

(ऋषिबोधोत्सव ११६६०)

प्रकाशक

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

गुरुदत्तभवन, लाहौर ।

ओम्

प्रास्ताविक

संवत् १९९६ में मैंने ऋषि दयानन्द के कुछ आध्यात्मिक उपदेश, **'अध्यात्मप्रसाद'** नामक लेख-माला के रूप में, 'आर्य्य' मासिक में प्रकाशित कराए थे। जिज्ञासुओं के अनुरोध पर उनको अब पुस्तिका के आकार में प्रकाशित किया जा रहा है।

कदाचित् ये इस रूप में प्रकाशित न हो सकते, यदि श्री महा० चिरञ्जीवलाल जी वानप्रस्थ इसके प्रकाशन का व्यय-भार न उठाते। उन्होंने ऋषि-भक्ति एवं आध्यात्मिकता के प्रेम की प्रेरणा से इसके प्रकाशन का व्यय दिया है। सब जिज्ञासु-जनों को उनका धन्यवाद करना चाहिए। मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

पुस्तिका इतनी शीघ्र प्रकाशित न हो सकती, यदि श्री स्वामी आत्मानन्द जी इसके प्रूफ पढ़ने में सहायता न करते, वे मेरे कई कार्य्यों में बड़ी तत्परता से सहयोग देते रहते हैं, उनके उपकार-भार को मौनभाव से धारण ही श्रेयस्कर है।

ऋषिबोधोत्सव
११६ द० (१९९७ वि०)

जिज्ञासुजनसतीर्थ्य
स्वामी वेदानन्दतीर्थ

❀ ओ३म् ❀

अध्यात्म-प्रसाद

योगियों का मुख्य-उद्देश्य

एक दिन फ़र्रुखाबाद में गढ़ी के नवाब ने पूछा—"क्या कोई ऐसी विद्या भी है, जिससे दूर-स्थान का ज्ञान भी हो सके ?" स्वामी जी ने उत्तर में कहा—"योगिजन ऐसी गुप्त बातों के जानने का यत्न नहीं करते। उनका मुख्योद्देश्य तो सब वस्तुओं में गुप्त ब्रह्म-सत्ता को जानना है।" (द० प्र०)

कर्त्तव्य-कर्म

लाला जगन्नाथ जी ने महाराज से पूछा—"महाराज ! मनुष्य का कर्त्तव्य-कर्म क्या समझा जाए ?"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"आदर्श-प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य-कर्म किया जाता है। मनुष्य के सामने आदर्श 'परमात्मा की प्राप्ति' है। इस लिए इसका कर्त्तव्य-कर्म है कि जैसे दयालु ईश्वर सब पर दया करता है, यह भी सब पर दया करे। ईश्वर सत्य-स्वरूप है, मनुष्य भी सत्यवादी बने। इस प्रकार ईश्वर के गुणों को अपने अन्दर धारण करने का अभ्यास करे और अन्त में परमेश्वर को उपलब्ध करे।" (द० प्र०)

कल्याणकारी कर्म

चासी में एक धुनिया विनयपूर्वक नित्यप्रति स्वामीजी की सत्संग-गंगा में स्नान कर अपने अन्तरङ्ग को निर्मल बनाया

करता था। स्वामी जी महाराज ने उस पर अपार दया करके उसे 'ओ३म्' पवित्र का जाप करना सिखाया। एक दिन भक्त धुनिए ने प्रार्थना की—"महाराज जी! जाप के अतिरिक्त मुझे और क्या काम करना चाहिए जिस से मेरा कल्याण हो।" महाराज जी ने उपदेश किया—"सदाचार-पूर्वक जीवन बिताओ। जितनी रुई किसी से लो, तुम धुन कर उतनी ही उसे पीछे लौटा दो। यही सद्-व्यवहार तुम्हारे लिए एक उत्तम कल्याणकारी कर्म है।" (द० प्र०)

कर्म-फल

(१) बरेली में भक्त स्काट ने पूछा—"महाराज! कर्म-फल का कैसे पता लगे?"

महाराज जी ने पूछा—"आप लङ्गड़े क्यों हैं?"

स्काट ने कहा—"ईश्वरेच्छा।"

महाराज जी ने कहा—" 'इसे ईश्वरेच्छा' न कहिए; यह कर्म-फल है। सुख-दुःख के भोग का नाम कर्म-फल है। जिस भोग का यहां कोई कारण दिखाई न दे, उसे पूर्व-जन्म के कर्मों का परिणाम कहते हैं।" (द० प्र०)

(२) "जीव जिसका मन से ध्यान करता है, उसी को वाणी से बोलता; जिसको वाणी से बोलता, उसको कर्म से करता; जिसको कर्म से करता, उसी को प्राप्त होता है। इससे क्या सिद्ध हुआ, कि जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल वह पाता है। जब दुष्ट कर्म करने वाले जीव ईश्वर की न्यायरूप व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते हैं तब रोते हैं।" (स० प्र०)।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

(१)

एक दिन एक साधु ने कहा—"इतने त्यागी परमहंस अवधूत होकर आप खण्डन-मण्डन-रूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों फँस रहे हो ? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते ?"

महाराज मुस्करा कर बोले—"हम तो यह सब कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित होकर सब ही को करनी उचित है।"

साधु ने कहा—"प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो ? आत्मा से प्रेम करो जिसके लिए कि श्रुति पुकार रही है।" उस समय उसने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद के वाक्य भी बोले। तब स्वामी जी ने पूछा—"महात्मन् ! आप किससे प्रेम करते हो ?" साधु बोला—"आत्मा से।"

स्वामी जी ने पूछा—"यह प्रेममय आत्मा कहां है ?"

साधु ने कहा—"वह राजा से लेकर रंकपर्य्यन्त और हस्ती से लेकर कीटपर्य्यन्त सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।"

स्वामी जी बोले—"जो आत्मा सब में रमा हुआ है, क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं ?"

साधु ने उत्तर दिया—"तो क्या हमने मिथ्या वचन बोला है ?"

तत्पश्चात् स्वामी जी ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते, आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्ज्वल बनाने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है, जो आपके देश में लाखों की

संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन बारहों महीने भीतर ही भीतर जलकर राख हो रहे हैं ? सहस्रों मनुष्य आपके देश में ऐसे हैं जिन्हें आजीवन उदर भरकर खाने को अन्न नहीं जुड़ता, उनके तन पर सड़े-गले मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों निर्धन दीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भांति गन्दे कीचड़ और कूड़े के ढेरों से घिरे हुए, सड़े-गले झोंपड़ों में लोटते हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन दुखिया भारतवासी हैं, जिनकी सार-संभार कोई भूले-भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कुसमय में राजमार्ग में पड़े-पड़े पाँव पीटकर मर जाते हैं परन्तु उनकी बात तक पूछने वाला कोई नहीं मिलता। महात्मन्! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अङ्गों की भांति सबको अपनाना होगा। अपनी क्षुधा-निवृत्ति की तरह उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी। सच्चा परमात्मप्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भेद-भावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है, जितने से वह अपने करता है। ऐसे ज्ञानी जन ही वास्तव में आत्म-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।" (द० प्र०)

(२)

आश्विन ११-१५, संवत् १९२५ को ककोड़े में मेला था—एक दिन संस्कृत का पण्डित गोविन्ददास कायस्थ आठ-दस विद्यार्थियों-सहित आकर स्वामी जी से मिला। उन लोगों ने अपने हाथ गोमुखियों में डाल रखे थे। वह सब को "हरि भजो छोड़ दो धन्धा" यह जप सिखाता था। महाराज पुलिन पर

बैठकर गोविन्ददास को समझाने लगे कि "आप सारे कर्म्म छोड़ने का उपदेश क्यों देते हो? भला सत्कर्म्म कैसे छोड़े जा सकते हैं और यदि कोई आपके कथन पर चले, तो क्या आँख, नाक, कान, जीभ आदि अंगों के व्यापार और अन्न-जल छोड़ दे या अन्य कुछ?" (द० प्र०)

(३)

सं० १९२६ वि० में महाराज प्रयाग में थे। एक दिन एक साधु ने महाराज से प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग पर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ के पश्चात् महाराज ने कथन किया—"क्रियात्मक जीवन ही शुभ जीवन है। सारा दृश्यमान जगत् अपनी नित्य-क्रिया में निरन्तर प्रवृत्त है। हमारे शरीर भी इस विशाल सृष्टि के अंश-मात्र हैं। जब विराट् देह में निरन्तर गति है, क्रिया है और प्रवृत्ति है तो हम जो उसके एक अंश रूप हैं उनमें निवृत्ति और निष्क्रियता होना असम्भव है। आर्य्यधर्म्म में वेदविहित कर्मों का करना और निषिद्ध कर्मों का त्यागना ही निवृत्तिमार्ग है। जो इस मर्म को मन में धारण किए विना निवृत्ति का राग अलापते हैं, उन्हें अभी वैदिकधर्म का बोध नहीं हुआ है। जो लोग सत्योपदेश, प्रजा-प्रेम और लोकहित के कार्यों को छोड़-कर अपने को परम निष्क्रिय मानते हैं, उन से भी भरण-पोषण नहीं छूट सकता। मधूकरी माँगने के लिए वे भी दो-दो कोस तक जाते हैं, यों ही तीर्थों पर घूमते फिरते हैं। सच तो यह है कि सत्य और लोक-कल्याण के लिए अपने सुखों का त्यागना—जीवन तक को लगा देना ही—सर्वोत्तम त्याग है। परोपकार के विना नर-जीवन मृग-जीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्र-

दायिक साधु लोग इस मेले पर आए हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जङ्गलों में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इन में और मृगों में भेद ही क्या है? मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है? यह तो पशुपक्षियों को सहज से उपलब्ध हैं।" (द० प्र०)

अविद्या

महाराज ने सेठ निर्भयराम से कहा—"सेठ जी! धर्म्म, कर्म्म और आत्मा-परमात्मा से भिन्न वस्तुओं में आनन्द समझना अविद्या का एक लक्षण है।" (द० प्र०)

अविद्या का लक्षण

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"

(पात० द० साधनपादे सू० ५)

यह योग-सूत्र का वचन है। जो अनित्यसंसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य्य जगत् देखा सुना जाता है, यह सदा रहेगा, सदा से है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीतबुद्धि का होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि में और मिथ्याभाषण चोरी आदि अपवित्र में पवित्रबुद्धि दूसरा; अत्यन्त विषय-सेवनरूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा; अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है।............जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्यबुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है। (स० प्र०)

धर्म्म

पादरी जोन्स की जिज्ञासा पर महाराज जी ने कहा—"परमात्मा के रचे पदार्थ सब के लिए एक से हैं। सूर्य्य और चन्द्रमा सब को समान प्रकाश दान करते हैं। वायु और जलादि वस्तुएँ सब को एक-सी दी गई हैं। जैसे ये पदार्थ ईश्वर की देन हैं, सब प्राणियों के लिए एक से हैं, ऐसे ही परमेश्वर-प्रदत्त धर्म्म भी मनुष्य के लिए एक और एक-सा होना चाहिए।

उस एक साधारण धर्म्म को ढूंढने के लिए यदि कोई जिज्ञासु सारे मतवादियों में भटकता रहे और पन्थाइयों के कथनों पर विश्वास करके धर्म्म को जानना चाहे, तो उसे सच्चे धर्म्म का ज्ञान कदापि नहीं हो सकेगा। हाँ, यदि वह सब में से सार को निकाल ले तो उसे प्रतीत होगा, कि थोड़ा-बहुत सत्य सभी मतों में पाया जाता है। जैसे—सत्य को सभी मतावलम्बी स्वीकार करते हैं, सभी कहते हैं कि परोपकार पुण्य कर्म्म है, भूत-दया का भाव बहुत अच्छा है, विपत्ति-व्याधिग्रस्त मनुष्यों को सहायता देना और दान-पुण्य करना शुभ कर्म्म है। सारांश यह है कि सदाचार और धर्म्म के जिन अङ्गों में सब मत एक-मत हैं, वही मत ईश्वर की देन है, वही सच्चा और सनातन है; शेष यह सब अपनी-अपनी खींचा-तानी है कि ईसा, मुहम्मद और कृष्ण के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।" (द० प्र०)

धर्म्म-पालन

महाराज ने महाराणा सज्जनसिंह जी को मनुस्मृति पढ़ाते हुए उपदेश किया—'यदि कोई अधिकारी धार्मिक आज्ञा दें, तभी उसका पालन करना चाहिए, अधर्म्मयुक्त कथन को कभी

नहीं मानना चाहिए।'

इस पर सरदारगढ़ के ठाकुर मोहनसिंह जी ने कहा—"महाराज! आपके उपदेशानुसार करें, तो जागीर गँवा बैठें।"

महाराज जी ने इसके उत्तर में कहा—'कोई चिन्ता नहीं। धर्म्म के लिए धन और ठकुराई भले ही चली जाए। धर्म्म-हीन हो जाने से और अधर्म्म के काम करके खाने से तो भीख माँग कर पेट-पालन करना बहुत अच्छा है।' (द० प्र०)

ब्रह्मचर्य्य

देखो, जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल-पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन संभाषण और स्पर्श आदि कर्म्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रह कर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी······दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य्य-बल-पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। (स० प्र०)

जो विवाह करना ही न चाहें और मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रह सकते हों तो भले ही रहें। परन्तु यह काम पूर्ण विद्या-बल वाले जितेन्द्रिय और योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रखना। (स० प्र०)

कामवासनाक्षयोपाय

मेरठ के एक संभ्रान्त व्यक्ति गङ्गाराम जी ने एक दिन

अभ्रक भस्म की चर्चा चलाई। स्वामी जी ने उसे कृष्ण अभ्रक-भस्म की एक मात्रा दी। गङ्गाराम जी ने सारी भस्म देखकर कहा—"स्वामी जी! अभ्रक तो बड़ा वाजीकरण औषध है। इस का सेवन करके सब को वशीभूत करने वाले कामदेव से आप कैसे बच गए हैं?" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में रहे, नाच आदि कभी न देखे, अनुचित स्वरूप का देखना, अनुचित शब्द का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना परित्याग कर देवे। स्त्रियों की ओर न निहारे। नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इन साधनों से वासना मन्द हो जाती है।"

"मनुष्य जितना वासना की तृप्ति का यत्न करेगा वह शान्त न होकर उतनी बढ़ती चली जाएगी। इसलिए विषयवासना की चिन्ता कभी न करे। जितेन्द्रिय बनने के अभिलाषी को रात-दिन प्रणव का जाप करना चाहिए। रात को यदि जाप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाए तो दो घण्टा भर गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और प्रणव पवित्र [ओम्]का जाप करना आरम्भ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लगते हैं, ये जितेन्द्रियजन के लिए अनिष्ट हैं। प्रातः-काल पांच दाने मालकंगनी के खा लिया करे। इस प्रकार जप आदि साधनों से कामवासना जीत ली जाती है।"

२. अमृतसर के एक भक्त पोलोराम जी के पूछने पर महर्षिजी ने कहा,"जब शय्याशायी होने लगो, तो प्रणव पवित्र [ओम्]का जप किया करो। जब तक नींद न आए, पाठ करते रहो। यहां तक कि उसी नामस्मरण में सो जाओ। इससे उत्तमोत्तम लाभ

होते हैं, वासनामय देह बदल जाता है।" (द० प्र०)

अभिमानादि दोष

किसी को अभिमान न करना चाहिए। छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिए ?

छल और कपट उसको कहते हैं, जो भीतर और, बाहर और रख दूसरों को मोह में डाल और दूसरों की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना।

कृतघ्नता उसको कहते हैं, जो किसी के किए हुए उपकार को न मानना [है]।

क्रोधादि दोष और कटु-वचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन बोले और बहुत बकवाद न करे।

जितना बोलना चाहिए, उससे न्यून वा अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाकर उनको उच्चासन पर बैठावे। प्रथम 'नमस्ते' करे। उनके सामने उच्च आसन पर न बैठे।

विरोध किसी से न करे।

सम्पन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रखे। (स० प्र०)

सत्य

वह पदार्थ सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थानमें असत्य और असत्य के स्थानमें सत्य का प्रकाश किया जाए। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। (स० प्र० भू०)

सत्यनिष्ठा

१. अजमेर में राबिन्सन, ग्रे, तथा शूलब्रेड पादरियों के साथ ऋषि का सात दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। आठवें दिन पादरियों ने किसी आक्षेप से चिढ़ कर कहा—"ऐसी बातों से आपको कारावास जाना पड़ेगा।" यह सुनकर ऋषिराज बोले—"सत्य के लिये कारावास कोई लज्जा-जनक बात नहीं है। धर्म-पथ पर आरूढ़ होकर, मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। प्रतिपक्षी लोग यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलाएँगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग भी न उत्पन्न होगी, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याणभावना भी कभी नहीं करूँगा। पादरी जी! मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फांसी पर लटकवा ही दिया था। (द० प्र०)

२. काशी में प्रथम शास्त्रार्थ के समय बलदेव कुछ घबरा गये, तो महाराज ने कहा—"बलदेव! कुछ चिन्ता न कीजिये। योगिजनों का यह दृढ़ विश्वास है कि अविद्या की तमोराशि को सत्य का सूर्य अकेला ही तुरन्त जीत लेता है। बलदेव! जो मनुष्य पक्षपात का परित्याग करके केवल लोकहित के लिये, ईश्वर की आज्ञा के अनुसार सत्योपदेश करता है उसे भय कहां है? सत्पुरुष किसी से भयभीत होकर सत्य को नहीं छिपाया करते। जीवन जाए तो जाए परन्तु वे अन्तरात्मा के आदेश--सत्य-को नहीं छोड़ते। बलदेव! चिन्ता किस बात की है। एक मैं-आत्मा-हूं, एक परमात्मा है, और एक ही धर्म है।

दूसरा है कौन, जिस से डरें और कांपें। उन सब को आ जाने दो। जो कुछ होगा, उसी समय देखा जायेगा।" (द० प्र०)

३. जिस पुरुषने जिसके सामने चोरी-जारी, मिथ्या भाषण आदि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि मिथ्या प्रतिज्ञा करने वाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे, जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये। अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि "मैं तुमको अमुक समय में मिलूंगा, वा तुम मुझको मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूंगा," इसको वैसे ही पूरा करें, नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा। इसलिये सदा सत्य-भाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सब को होना चाहिये। (स० प्र०)

असत्य का कारण

मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह, और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। (स० प्र० भू०)

मनुष्य

१. जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं तो वे मनुष्य-स्वभाव-युक्त नहीं किन्तु पशुवत् हैं। और जो बलवान् निर्बलों की रक्षा करता है वही मनुष्य कहाता है और जो स्वार्थवश होकर परहानिमात्र करता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है। (स० प्र० भू०)

२. मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्म-

वत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्याय-कारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित ही क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो; चाहे प्राण भी भले जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से कभी पृथक् न होवें।

(स्व० म० प्र०)

ममता

काशी में एक दिन श्री महाराजने श्री बाबा जवाहरदासजी से कहा—"आप भी उपदेश करने लग जाइये।" इसका उत्तर उन्होंने यों दिया—आपका तो कोई ठौर-ठिकाना है नहीं, इस-लिये देशदेशान्तर में चक्कर लगाते फिरते हो। मैं डेरे वाला हूं, मुझ से उपदेश का काम नहीं हो सकता। यह सुनकर स्वामी जी ने कहा—"यह स्थान और डेरा पहले भी आपके पास नहीं था और अन्त में भी नहीं रहेगा। बीच में यों ही ममता बांध बैठे हो। इसलिये छोड़ो और लोकहित के कार्य में लग जाओ। (द० प्र०)

द्वेषनाश का उपाय

भरूच में एक पारसी कैथोलिक नव कृस्टान ने ब्राह्मणों की सहायता से मूर्त्तिपूजा पर व्याख्यान का प्रबन्ध किया। महाराज को भी बुलाया। महाराज वहां श्रोताओं में ही बैठे।

व्याख्याता ने महाराज जी को लक्ष्य कर अनेक कुवाच्य कहे। वहाँ कुछ पूर्वी सैनिक भी उपस्थित थे, वे सहन न कर सके। व्याख्याता की ताड़ना करने पर उतारू हो गए। महाराज ने उस समय उन्हें शान्त करने को यह उपदेश दिया--

"अपमानकर्त्ता का अपमान करने से उसका सुधार नहीं होता, किन्तु सम्मान देने से वह सुधर जाता है। जैसे आग में आग डालने से वह शान्त नहीं होती, ऐसे ही द्वेषी की द्वेष-बुद्धि उसके साथ द्वेष करने से दूर नहीं हो सकती। अग्नि को शान्त करने का साधन जल है, इसी प्रकार द्वेष को मिटाने का साधन शान्ति-धारण करना है।" (द० प्र०)

भोजन

जिस प्रकार आरोग्य विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन छादन और व्यवहार करें-करावें। अर्थात् जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्यमांसादि के सेवन से अलग रहें। (स० प्र०)

भोजन-शुद्धि

(१) फरुखाबाद में 'साधू' नामक एक अछूत जन-समुदाय रहता है, वे सब घरबारी होते हैं, काम-धन्धा करके निर्वाह करते हैं। उनके हाथ का बना भोजन ब्राह्मण-वैश्य आदि ग्रहण नहीं करते। एक दिन एक 'साधू' कढ़ी और दाल परोस कर श्रद्धासहित महाराज के पास ले आया। महाराज जी ने श्रद्धा-रूपी उस भक्ति का आदर किया। इस पर उपस्थित ब्राह्मणों ने कहा—'स्वामी जी! आप तो 'साधू' का भोजन पाकर भ्रष्ट हो गए। आपको ऐसा करना कदापि उचित न था।'

स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—'अन्न तो दो प्रकार से दूषित होता है, एक तो तब जब दूसरे को दुःख देकर प्राप्त किया जाए और दूसरे जब कोई मलिन वस्तु उस पर अथवा उसमें पड़ जाए। इन लोगों का अन्न परिश्रम के पैसे का है और पवित्र है। इसलिए इसके ग्रहण करनेमें दोष का लेश भी नहीं है।"

(२) अनूपशहर में 'उमेदा' नाई रहता था। वह महाराज का भक्त था। एक दिन वह महाराज जी के लिए घर से भोजन लाया। महाराज ने अंगीकार किया। वहाँ उपस्थित २०-२५ ब्राह्मणों ने आक्षेप किया 'छिः, छिः, स्वामी जी! यह क्या करते हो। यह रोटी तो नाई की है।' महाराज ने हँसते हुए कहा—'नहीं, यह रोटी तो गेहूं की है। इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा।' (द० प्र०)

मांसाहार

मुलतान के एक कृष्णनारायण ने कहा—"मैं मांस खाता हूँ परन्तु कोई हानि अनुभव नहीं करता।" महाराज जी ने कहा—"आज्ञाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाली और दूसरी आत्मा के साथ। शरीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाली आज्ञा को भंग करने से रोग, शोक आदि दुःख होते हैं। आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाली आज्ञा के लोप से शारीरिक दुःख तो नहीं होते, परन्तु आत्मा उच्च पद को प्राप्त नहीं होता। मांस खाना आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाली परमात्मा-आज्ञा का भंग करना है। इसलिए मांस खाने वाले को योग-विद्या नहीं आती। उसे योग की सिद्धियां भी नहीं होतीं।" (द० प्र०)

अपकार न करना

अमृतसर में महाराज के सत्संग में एक दीन मनुष्य नित्य आया करता था। एक दिन उसने कहा—"महाराज! मैं निर्धन हूँ, दान-पुण्य तो कर नहीं सकता। फिर मेरा निस्तार कैसे होगा?" दयालु दयानन्द ने कहा—"सौम्य! आप भी बड़े उपकारी और पुण्यात्मा बन सकते हैं। एक मनुष्य यदि दान और परोपकार करने से पवित्र बन जाता है; तो दूसरा पर-अपकार और पाप-कर्म न करने से भी अपना मंगल साधित कर लेता है। सो आप अपने हृदय में पर-अपकार और अनिष्ट-चिन्तन का भाव कदापि न लाइए। इससे आप बड़े धर्मात्मा बन जाएँगे। अपकार न करना भी संसार का उपकार है। (द०प्र०)

परोपकार

(१) गुजरात के दो उच्च कर्मचारी महाराज से मिलने आए। वार्त्तालाप में वे कहने लगे—"स्वामी जी! खण्डन में क्या पड़ा है। इससे लोग बहुत भड़क उठते हैं, हम तो जिस कर्म से अपना लाभ हो, उसीको अच्छा समझते हैं। परहितचिन्तन और परोपकार एक व्यर्थ ढकोसला है।" महाराज ने गम्भीरता से उत्तर दिया—"यदि अपना भला करना ही उद्देश्य है, तो मनुष्यता क्या हुई? अपने भले का भाव तो गधों में भी पाया जाता है। पशुमात्र अपने लिए जीता है। परोपकार और पर-हित साधन का नाम ही मनुष्यत्व है। (द० प्र०)

(२) जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस सब जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्य को भी परोपकार करना चाहिए। (स० प्र०)

दान

बरेली में दान-सम्बन्ध में व्याख्यान देते हुए महाराज ने उपदेश किया—

"अन्न-जल का दान कोई भी भूखा-प्यासा मिले उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ोसी को देना चाहिए। पास के रहनेवाले का दारिद्र्य दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है। इससे वाह वाह नहीं मिलती, इसलिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता। समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित को अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्ती दीन-दुखिया जन पर तो दया आदि भावों को नहीं दिखलाता किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है, उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानुभूति-प्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्यों का दान बाहर का दिखावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकाश, दीपक की ज्योति की भाँति समीप से दूर तक फैलाना उचित है।"

"यहाँ यह प्रश्न होता है कि जो निर्धन-जन अन्नादि का दान करने में असमर्थ हैं, वे अपने पड़ोसी को कष्ट और क्लेश में सहायता दें, निर्बलों का पक्ष करें, विपत्ति में फँसे हुए और आधि-व्याधिग्रस्त जनों की सेवा करें, पीड़ितों और व्याकुल-मनुष्यों से प्रेम करें, उन्हें मीठे वचनों से शान्ति दें। ये सब दान हैं। ऐसे दान निर्धन-जन भी कर सकते हैं।" (द० प्र०)

महाराणा के उदयपुर में श्रीयुत मोहनलाल विष्णुलाल,

पण्ड्या को उपदेश करते हुए कहा—

"प्रलोभ-वश बड़े-बड़े महात्मा भी अपनी मान-मर्यादा को मलियामेट कर देते हैं। प्रलोभन के स्वरूप ने कई तपस्वियों की तपश्चर्या और व्रतधर्म को दिन-दिहाड़े लूट लिया है। साधारण व्यक्तियों की तो गणना ही नहीं हो सकती। इसके तो चरणों को जातियों के मुकुटों से चमकते हुए शिरों पर चढ़ाकर चर्चित किया गया है। जहाँ कभी बाँके मन्दिर आकाश से बातें करते थे और राग-रंग होता था, वहाँ आज इसके हाथों चमगीदड़ बसते, उल्लू बोलते, गीदड़ नाचते और चिल्लाते हैं। जिस महापुरुष ने, अन्नमय-कोश में रहकर, इस मायाधारी प्रलोभ-पिशाच को जीत लिया है, वह सचमुच इस मोहमायामयी सृष्टि से ऊपर है, दैवबलसंपन्न है।" (द० प्र०)

कौन सुखी है और कौन दुःखी है

सहारनपुर में उपर्युक्त विषय पर व्याख्यान देते हुए श्रीमहाराज जी ने कहा—"किसी नगर में एक धनाढ्य पुरुष रहता था, उस पर अपराधवश कोई अभियोग चल गया। राजद्वार में उसके अभियोग के निर्णय के लिए जो तिथि नियत हुई थी, उसके कई दिन पहले ही वह चिन्ता-सागर में डूब गया। उसके सारे नौकर-चाकर बड़ी प्रसन्नता से खाते-पीते और काम-काज करते थे। अभियोग की तिथि आने पर उसको न्यायालय में पहुँचाने के लिए एक पालकी उपस्थित की गई। उसमें सुकोमल वस्त्र बिछा हुआ था और खस की टट्टियाँ लगी हुई थीं। उसमें आरूढ़ होकर वह न्यायालय को गया, परन्तु उसके चित्त में चिन्ता की चिता प्रचण्ड हो रही थी, उसके मन में सुख

का नाम तक न था। उसके नौकर उस समय भी प्रसन्नता से पालकी उठाए चले जाते थे। वास्तव में ऊपर के ठाट-बाट और समृद्धि में सुख नहीं है, सुख तो मन की अवस्था में है।

[द० प्र०]

शरीर-रक्षा

बड़ौदा में महाराज जी एक दिन क्षौर करा रहे थे, उस समय वहां एक शास्त्री आ गया और कहने लगा—"संन्यासियों का धर्म तो त्याग है। आप इस देह-विभूषा में क्यों लगे हैं?" श्रीमहाराज जी ने कहा—"यदि बाल बढ़ाने में त्याग है, तब तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी सिद्ध होगा। ऐसी बातों में त्याग और वैराग्य नहीं है। देह की रक्षा के लिए उसे सँवारना धर्म्मानुकूल है जैसे प्रमादी पुरुष पुष्ट शरीर से अधिक पापाचरण करते हैं, ऐसे ही परोपकारी-जन परिपुष्ट और बलिष्ठ काय से अधिक धर्म्म-कर्म्म करते हैं। [द० प्र०]

आठ सत्य

१. ऋग्वेद से महाभारतपर्य्यन्त परमेश्वर और ऋषिप्रणीत ग्रन्थ सत्य हैं। [टि०—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद परमेश्वर-प्रणीत हैं। शेष शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, दर्शन, अङ्ग आदि ऋषि-प्रणीत हैं। (सं०)]
२. ब्रह्मचर्य्याश्रम में गुरुसेवा-पूर्वक अपना धर्म्मानुष्ठान निभाते हुए वेदाध्ययन करना चाहिए।
३. वेदोक्त वर्णाश्रम का धर्म्म और सन्ध्यावन्दन-अग्निहोत्र आदि कर्म्म करने उचित हैं।

४. जैसा धर्म्मशास्त्र में ऋतुकाल आदि के नियमों से गृहस्थ-धर्म्म लिखा है, उसके अनुसार चलना, पंचमहायज्ञों और श्रौतस्मार्त्त-कर्म्मों का करना कर्त्तव्य है।
५. शम-दम-तपश्चर्य्या का धारण, यमादि समाधिपर्य्यन्त उपासना के साधनों का करना, और सत्सङ्गपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान करना विधिविहित है।
६. विचार, विवेक, वैराग्य, परा-विद्या का अभ्यास करना और संन्यास ग्रहण करके सकल कर्म्मों के फल की वाञ्छा छोड़ देना उचित है।
७. जन्ममरण, हर्षशोक, कामक्रोध, लोभमोह और संगदोष—यह सब अनर्थकारी हैं, इसलिए इन्हें त्यागना शुभ है।
८. अविद्या, अस्मिता, राग.द्वेष, अभिनिवेशरूप क्लेशों से और तमो-रजस्-सत्त्वगुणों से निवृत्ति पाकर पाँच महाभूतों से अतीत मोक्षरूप स्वराज्य को प्राप्त करना परमलक्ष्य है।

न यतीनां कांचनं दद्यात्

बड़ौदा में एक दिन एक पण्डित ने महाराज जी के धन स्वीकार करने पर आक्षेप करते हुए "न यतीनां कांचनं दद्यात्" [यतियों को सोना नहीं देना चाहिए] वचन पढ़ा। श्रीमहाराज जी ने कहा—"वहां तो केवल सुवर्ण देना वर्जित किया है, क्या आप की मति में यतियों को चाँदी, हीरा, मोती आदि देना चाहिए। भाई! यदि इसके भाव को समझना चाहते हो तो अति सरल है। यतियों को संग्रह न करना चाहिए। परन्तु यदि परोपकार के लिए द्रव्य लेना भी पड़े, तो कोई दोष नहीं है। जिन भगवद्भक्तों ने पर-हितार्थ अपनी काया को भी अर्पण

कर रखा है, वे करोड़ों मन कांचन रखते हुए भी अकिञ्चन हैं। अब रही मेरी बात—मैं जब गङ्गा तट-पर पर्य्यटन करता था उन दिनों कौपीनधारी दिगम्बर था। उस समय मुझे कौड़ी तक छूने की आवश्यकता न थी। परन्तु अब मैंने जनहित के कार्य्यों में अधिक भाग लेना आरम्भ कर दिया है, इसलिए 'कूपमृत्तिकान्याय' से लोगों से धन लेकर उन्हीं के हितकर कार्य्यों में लगा देता हूँ। पर यदि आप यह मानते हैं कि द्रव्य (धन) का स्वभाव पापमय है, इसके छू लेने से संक्रामक व्याधि की भाँति पाप लग जाता है, तो आप भी धनवान् प्रतीत होते हैं, क्या ऐसी अवस्था में आप अपने को पापी मानते हैं?" (द० प्र०)

(२) (पू० प०)—

> यतीनां कांचनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।
> चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत् ॥

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता नरक को प्राप्त होवे।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धु वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा हमारे अधीन भी न रहेंगे। और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे अधीन रहेगा तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो मनु०—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् ।[1]

नाना प्रकार के रत्न, सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात् संन्यासियों को देवे। और वह तुम्हारा श्लोक भी अनर्थक है क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी मोती, हीरा आदि देने से, स्वर्ग को जायगा !

(पू० प०) यह पण्डित जी इसका पाठ बोलते भूल गए। यह ऐसा है कि 'यतिहस्ते धनं दद्यात्' अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है वह नरक में जाता है।

(उत्तर) यह भी वचन अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है, क्योंकि जो हाथ में धन देने से नरक को जाए तो पग पर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा? इसलिए ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रखेगा तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जायगा। परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी भी नहीं करेगा, न मोह में फँसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर, वा सब देख चुका है। और जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होता है वह पूर्णवैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फँसता। (स० प्र०)

मन को स्थिर करना

(१) पटना—दानापुर के श्री जनकधारी जी ने पूछा—"चञ्चल मन इधर-उधर भाग जाता है। इसे कैसे ठहराया जाए? और

१ टि०—यह वाक्य मनु० के ११।४,६ श्लोकों का भावार्थ प्रतीत होता है क्योंकि ४ में सर्वरत्नानि और ६ में विविक्त पद आए हैं। दोनों का अर्थ ठीक वही है जैसे ऋषि ने यहां कहा है।

किस रूप में कहां ठहराया जाय?"

स्वामी जी ने कहा—"(क) मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक जिस चक्र में आपका चित्त स्थिर हो सके उसी में ठहरा लो। रूप की, अभ्यास में कोई आवश्यकता नहीं है। यदि चित्त किसी प्रकार भी स्थिर न हो, तो मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त प्रत्येक चक्र में चमकते हुए चक्रों की धारणा करो; उसके साथ ओम् का जप, ध्यान से करो। (ख) अथवा, त्रिकुटी में सूई के नाके के समान बिन्दु की कल्पना करके उसमें धारणा ध्यान-पूर्वक ओम् का ध्यान करो। ज्यों-ज्यों आपकी धारणा दृढ़ होती जाए, त्यों-त्यों उस तिल के खण्ड करते जाओ, यहां तक कि बिन्दु के बिना ही आपकी धारणा ध्रुवता को धारण कर ले"। (द०प्र०)

(२) उदयपुर में अपने दीक्षित-शिष्य स्वामी सहजानन्द जी को उपदेश किया—"संन्यासियों को सदा परमात्मा पर ही निर्भर करना चाहिए। आप नित्य प्रति प्रातः और सायं समय प्रणव (ओम्) पवित्र का जप और आराधन किया करें। यही हम लोगों का आश्रय और आधार है। इसके चिन्तन से चित्त की सारी चञ्चलता दूर हो जाती है। पाप-पङ्क को धोने के लिए इससे बढ़ कर दूसरा साधन नहीं है। महामुनि जन इस महामन्त्र से मन्मथोन्मथन कर के परमानन्द में निमग्न रहा करते हैं।

लक्ष्य को वेधने के समय, जैसे वीर धनुर्धर टकटकी लगा कर केवल लक्ष्य ही को देखता है, उसी प्रकार मनोवृत्ति को एकाग्र कर प्रणव-पाठ जपने से कल्पनातीत परिणाम प्राप्त होता है। जब तुम चिरकाल पर्यन्त इस भक्तियोग को करते रहोगे,

तो समाधि के मधुमय स्वादु फल को आप ही स्वादन करने लगोगे। उस समय आपकी सब वासनाएँ शान्त हो जाएँगी। कामनाएँ परा तृप्ति को प्राप्त कर लेंगी।" (द० प्र०)

(३) "जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है। वैसे ही प्राण को बल से बाहर फेंक कर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकलना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखें तब तक प्राण बाहर रहता है। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके फिर भी वैसा ही करता जाए, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाए। इस प्रकार करने से आत्मा और मन को पवित्रता और स्थिरता होती है।" (स० प्र०)

भृकुटी में ध्यान

मेरठ में भक्त वेणीप्रसाद के तिलक सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में कहा—"तिलक लगाने का भी कोई पुण्य नहीं है। यह रीति व्यर्थ में ही चल गई है। हां, यह बात तो ठीक है कि पुरातन आर्य लोग दोनों भौहों के मध्य में ध्यान किया करते थे। अपने शिष्यों को भी इसकी शिक्षा देते थे। इस स्थान में ध्यान करने से लाभ भी महान् होता है। त्रिकुटी के अभ्यासियों में से किसी-किसी को बिन्दु-समान उज्ज्वल ज्योति-कण दीखने लगता है। कोई तेजोमय चक्राकार को देख पाता है। कोई अर्धचन्द्राकार प्रकाश-पुञ्ज के दर्शन करता है और किसी को दीपशिखा के आकार की ज्योति दिखाई देती है। ये सब योग के चमत्कार हैं, आत्मिक उन्नति के चिह्न हैं। कोरे तिलकों का इनके साथ

कोई सम्बन्ध नहीं है ।" (द० प्र०)

मुक्ति के साधन

(१) चांदापुर के मेले में महाराज ने मुक्ति के साधन इस प्रकार बताए—

"(क) मुक्ति का पहला साधन सत्याचरण है। (ख) दूसरा साधन वेद-विद्या का ठीक रीति से लाभ करना और सत्य का पालन करना है। (ग) तीसरा, सत्पुरुषों और ज्ञानी जनों का का सत्सङ्ग करना। (घ) चौथा—योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से निकाल कर सत्य में स्थापन करना (ङ) पांचवां—ईश्वर की स्तुति करना, उसकी कृपा का यश वर्णन करना, और परमात्मकथा को मन लगाकर सुनना। और (च) छठा साधन प्रार्थना है। प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए—'हे जगदीश्वर कृपानिधे! हमारे पिता! मुझे असत् से निकाल कर सत में स्थिर करो। अविद्या-अन्धकार और अधर्माचरण से पृथक् करके ज्ञान और धर्माचरण में सदा के लिए स्थापित करो। जन्ममरण रूप संसार से मुक्त कर अपनी अपार दया से मोक्ष प्रदान करो।'" (द० प्र०)

(२) उदयपुर में एक रामस्नेही साधु के उत्तर में महाराज ने उपदेश किया—

"परमानन्द की प्राप्ति के लिए नामी के गुणों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। जैसे शब्द के साथ ही अर्थ का बोध हो जाता है, जल कहते ही शीत-गुणप्रधान द्रवीभूत जल-पदार्थ की प्रतीति हो जाती है; ऐसे ही नाम लेते ही उसके वाच्य का ज्ञान होजाना चाहिए। जैसे जल-शब्द कहते ही उसके वाच्य का ज्ञान होना

और उसकी प्राप्ति की क्रिया करना परमावश्यक है, ऐसे ही नाम और उसके अर्थ को जानना तथा उसकी उपलब्धि के लिए प्रत्याहार, धारणा और ध्यानादि क्रिया-कलाप का करना अतीव आवश्यक है।" (द० प्र०)

(३) जोधपुर के महाराजा की जिज्ञासा के समाधान में कहा—

"आप लोगों के दूसरे कर्म्म तो मोक्षमार्ग के नहीं हैं। किन्तु एक काम करना आपके अधीन है और यह निरपेक्ष न्याय करना है। यदि आप प्रजा का न्याय करने में न्यूनता नहीं आने देंगे, तो आपका आत्मा इसीसे निर्लेप होकर निर्वाणपद पा लेगा।"

(द० प्र०)

भावना

(१) कानपुर में एक दिन श्रीयुत गङ्गासहाय ने पूछा— 'प्रतिमापूजन में क्या दोष है' ? महाराज ने उत्तर दिया—'वेदों की आज्ञा पर चलना धर्म है, वेदों में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है, इसलिए उनके पूजन में आज्ञा-भङ्ग का दोष है। पुराणों में जो मूर्त्ति-पूजा का विधान लिखा है, वह सब गप्प है और असार है। जो यह कहते हैं कि अपनी भावना का फल होता है उनका कथन भी सत्य नहीं है। तुम बैठे चक्रवर्ती राजा बनने की भावना करते रहो तो इतने से सार्वभौम राजा नहीं बन सकोगे। भावना भी सच्ची होनी चाहिए।' (द० प्र०)

(२) बम्बई में एक व्याख्यान में महाराज ने कहा— 'मूर्त्ति जड़ है, इसे ईश्वर मानोगे तो ईश्वर भी जड़ सिद्ध होगा। अथवा ईश्वर के समान एक और ईश्वर मानो तो परमात्मा का परमात्मपन नहीं रहता। यदि यह कहो कि मूर्ति में ईश्वरांश

आ जाता है तो ठीक नहीं, इससे ईश्वर अखण्ड सिद्ध नहीं हो सकता। 'भावना में भगवान् है' यदि यह कहो तो मैं कहता हूँ कि काष्ठखण्ड में इक्षुखण्ड की और लोष्ठमें मिश्री की भावना करने से क्या मुख मीठा हो सकता है ? मृग तृष्णा में मृग जल की बहुतेरी भावना करता है, परन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। विश्वास, भावना और कल्पना के साथ सत्य का होना भी आवश्यक है।' (द० प्र०)

(३) मेरठ की धर्मसभा के प्रश्नों का उत्तर देते हुए महाराज ने लिखा—'......आप यदि कहें कि हम मूर्तियों को देव तो नहीं मानते किन्तु देव की भावना उनमें करते हैं। इसलिये फल मिल जाएगा। तो हम पूछते हैं वह आपकी भावना सच्ची है अथवा झूठी। यदि उसे सच्ची मानते हो तो यह बताओ कि सारा संसार जो सुख की भावना करता है वह पूर्ण क्यों नहीं होती। यदि प्रतिमा में देव-भाव से स्वर्ग मिलता है तो पानी में दूध और मिट्टी में मिश्री का भाव करके भी कार्य-सिद्धि होनी चाहिये। यदि भावना झूठी करते हो तो मिथ्या-व्यवहार वाले मनुष्य की बात विश्वास के योग्य नहीं रहती। यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मान कर मूर्त्ति में पूजते हो तो वह परमात्मा पुष्पों में भी पाया जाता है, उसको तोड़ कर मूर्त्ति पर क्यों चढ़ाते हो ? सर्वव्यापक को एक स्थान में मानकर पूजना उसकी व्यापकता के साथ उपहास करना है।' (द० प्र०)

(४) "जब परमेश्वर व्यापक है, तो मूर्त्ति में भी है। पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं ? देखो—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।

भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

परमेश्वर देव न काष्ठ, न पाषाण न मृत्तिकासे बनायेपदार्थों में है किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है । जहाँ भाव करें वहाँ परमेश्वर सिद्ध होता है ।

उत्तर—जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना, अन्यत्र न करना यह ऐसी बात है जैसी चक्रवर्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुड़ा के एक छोटी सी झोंपड़ी का स्वामी मानना । देखो यह कितना बड़ा अपमान है । वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो, तो बाटिका में से पुष्प तोड़ कर क्यों चढ़ाते ? चन्दन घिस के क्यों लगाते ? धूप को जला के क्यों देते ? घंटा, घड़ियाल, झांझ, पखावों को लकड़ी से कूटना-पीटना क्यों करते हो ? तुम्हारे हाथों में है, क्यों जोड़ते ? शिर में है, क्यों शिर नवाते ? अन्न, जलादि में है, क्यों नैवेद्य धरते ? जल में है, स्नान क्यों कराते ? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है । और तुम व्यापक की पूजा करते हो वा व्याप्य की । जो व्यापककी करते हो तो पाषाण लकड़ी आदि पर चन्दन पुष्पादि क्यों चढ़ाते हो ? और जो व्याप्य की करते हो, तो "हम परमेश्वर की पूजा करते हैं" ऐसा झूठ क्यों बोलते हो ? 'हम पाषाणादि के पुजारी हैं' ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते ?

अब कहिए 'भाव' सच्चा है वा झूठा ? जो कहो 'सच्चा है', तो तुम्हारे भाव के अधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जाएगा और तुम मृत्तिका में सुवर्ण रजतादि, पाषाण में हीरा, पन्ना, आदि, समुद्रफेन में मोती, जल में घृत, दुग्ध, दधि आदि और

और धूलि में मैदा, शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बनाते हो? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते, वह क्यों होता? और सुख की भावना सदैव करते हो वह क्यों नहीं प्राप्त होता? अन्धा पुरुष नेत्र की भावना कर के क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं करते, पुनः क्यों मर जाते हो? इसलिए तुम्हारी भावना सच्ची नहीं। क्योंकि जैसी में वैसी करने का नाम भावना कहते हैं। जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना और जल में अग्नि, और अग्नि में जल जानना अभावना है। क्योंकि जैसे को वैसा जानना ज्ञान और अन्यथा जानना अज्ञान है। इसलिए तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।" (स० प्र०)

स्तुति-प्रार्थना-उपासना का फल

(प्र०) परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए वा नहीं?

(उ०) करनी चाहिए।

(प्र०) क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले का पाप छुड़ा देगा?

(उ०) नहीं।

(प्र०) तो फिर स्तुति प्रार्थना क्यों करना?

(उ०) उनके करने का फल अन्य ही है।

(प्र०) क्या है?

(उ०) स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने अपने गुण-कर्म-स्वभाव सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से

मेज़ और उसका साक्षात्कार होना ।

स्तुति-प्रार्थना-उपासना का स्वरूप

(प्र०) इनको स्पष्ट करके समझाओ ।

(उ०) जैसे—[ईश्वर की स्तुति]

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजु० अ० ४० । मं० ८ ॥

वह परमात्मा सब में व्यापक शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् है । वह शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंभू परमेश्वर अपनी जीवरूपी सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा करता है । यह सगुण स्तुति है अर्थात् जिस-जिस गुण के सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण । (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश दुःख अज्ञान नहीं होता है इत्यादि । जिस जिस रागद्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है । इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुणकर्मस्वभाव अपने भी करना । जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे । और जो केवल भांड के समान परमेश्वर का गुणकीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसकी स्तुति करना व्यर्थ है ।

प्रार्थना—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥ यजु० ३२।१४॥
तेजोसि तेजो मयि धेहि । वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेह्योजोस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोसि सहो मयि धेहि ॥२॥यजु०१६।६॥
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥३॥
येन कर्म्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥
यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥७॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

यजु० ३४।१-६

हे अग्ने—प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आपकी कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं उसी बुद्धि से युक्त इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् हमको कीजिए ॥१॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं कृपा करके मुझ में भी प्रकाश स्थापन कीजिए । आप अनन्तपराक्रमयुक्त हैं इससे मुझ में भी कृपा-

कटाक्षसे पूर्ण पराक्रम धरिए। आप अनन्त बलयुक्त हैं [इसलिए] मुझ में भी बल धारण कीजिए। आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं इसलिए मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिए। आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं मुझको भी वैसा ही कीजिए। आप निन्दा-स्तुति और स्व-अपराधियों को सहन करने वाले हैं कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिए ॥२॥

हे दयानिधे ! आपकी कृपा से मेरा मन जागते में दूर दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर दूर जाने के समान व्यव-हार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक एक वह मेरा मन शिवसंकल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे, किसी की हानि करने की इच्छा से युक्त कभी न होवे ॥३॥

हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म्म करनेवाले धर्मयुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म्म करते हैं जो अपूर्वसामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है वह मेरा मन धर्म्म करने की इच्छा से युक्त होकर अधर्म्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥४॥

जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा निश्चयात्मक-वृत्ति है और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है जिसके बिना कोई कुछ भी कर्म्म नहीं करता, वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥५॥

हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत भविष्यत् वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है,

जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पांच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा-युक्त रहता है उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं वह मेरा मन योगविज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥६॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर! आपकी कृपा से मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥७॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है वह मेरा मन सब इन्द्रियों को अधर्म्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए ॥८॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥ यजु० ४०।१६

हे सुख के दाता! स्वप्रकाशस्वरूप! सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइए और जो हममें कुटिल पापाचरण रूप मार्ग है उससे पृथक् कीजिये। इसीलिए हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुतसी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें।

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥
यजु० १६।१५

हे रुद्र! (दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलाने

वाले परमेश्वर !) आप हमारे छोटे बड़े जन, गर्भ, माता, पिता और प्रियबन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने के लिए प्रेरित मत कीजिए। ऐसे मार्ग से हमको चलाइए, जिससे हम आपके दण्डनीय न हों।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा ऽमृतं गमय,
इति ॥ शत० ब्रा० १४।३।१।३०

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिए। अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्या-रूप सूर्य्य को प्राप्त कीजिए, और मृत्युरोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिए..............।

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिये। अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करे, उस के लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उप-रान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है जैसे–"हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश और मुझको सबसे बड़ा, कीजिये, मेरी ही प्रतिष्ठा हो और मेरे ही अधीन सब हो जांय" इत्यादि क्योंकि दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिये प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश करे! जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे, तब हम कह सकते हैं कि जिस का प्रेम न्यून हो उस के शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते २ कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—"हे ईश्वर! हम को रोटी बना कर खिलाइये,

मेरे मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती बाड़ी भी कीजिये।" इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे बैठे रहते हैं वे महा मूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उस को जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी नहीं पावेगा। जैसे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ॥यजु० ४०।२।

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे। आलसी कभी न हो।

देखो सृष्टि के बीच जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं वे सब अपने अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं, जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथ्वी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा घटते बढ़ते रहते हैं, वैसे यह दृष्टांत मनुष्य को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है वैसे धर्म्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है। जैसे काम करने वाले पुरुष को भृत्य करते हैं और अन्य आलसी को नहीं; देखने की इच्छा करने वाले और नेत्र वाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं; इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं, जो कोई गुड़ मीठा है ऐसा कहता है उसको गुड़ प्राप्त वा स्वाद कभी नहीं होता और जो यत्न करता है उस को शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है। अब तीसरी

उपासना

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

यह उपनिषत् का वचन है—'जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं। आत्मस्थ हो कर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है उसको जो परमात्मा से योग का सुख होता है वह वाणी से कहा नहीं जा सकता; क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है।' उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है। अष्टाङ्ग-योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी-रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो जो काम करना होता है वह सब करना चाहिये।..

जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा प्राणायाम कर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी-भर इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त होता है। यहाँ सर्वज्ञ आदि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण, और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म, आत्मा के भीतर व्यापक परमेश्वर में में दृढ़ स्थित हो जाना निर्गुणोपासना कहाती है। इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त

हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य ही करनी चाहिए। इससे इसका फल पृथक् होगा। परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरायेगा और सब को सहन कर सकेगा, क्या यह छोटी बात है। जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों के सुख के लिए दे रखे हैं उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है। (स. प्र.)

प्रार्थना का फल

(१) मेला चाँदापुर में महाराज ने एक सज्जन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—

"प्रार्थना का फल यह है कि जब कोई जन अपने सच्चे मन से,अपने आत्मा से,अपने प्राण से, अपने सारे सामर्थ्य से परमेश्वर का भजन करता है, तब वह कृपामय परमात्मा उसको अपने आनन्द में निमग्न कर देता है। जैसे छोटा बालक घर की छत पर से अथवा नीचे से अपने माँ-बाप के पास जाना चाहता है, तो उसके माँ-बाप, इस भय से कि कहीं हमारे प्रिय पुत्र को इधर-उधर गिर पड़ने से कष्ट न हो अपने सहस्रों कामों को छोड़ दौड़ कर उसे गोद में उठा लेते हैं, ऐसे ही परम-कृपानिधि परमात्मा की ओर यदि कोई सच्चे आत्मभाव से

चलता है तो वह भी अपने अनन्त शक्तिमय हाथों से उस जीव को उठा कर अपनी गोद में रख लेता है फिर उस को किसी प्रकार का कष्ट क्लेश नहीं होने देता और वह जीव आनन्द में रहता है। परमात्मा माता-पिता की भाँति अनेक भक्तों को सुख-सम्पन्न करने की कृपा करता है। (द० प्र०)

(२) पुष्कर में एक दिन एक निर्मला सन्त महात्मा रामसिंह ने स्वामी जी के प्रार्थना आदि करने पर आक्षेप किया। उत्तर में महाराज ने कहा—

"मनुष्य में प्रार्थना की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जैसे आप में खाने पीने और सोने की प्रवृत्ति तो विद्यमान है, परन्तु परितृप्ति प्राप्त करनेके लिए आप उस वृत्तिको जगाते हैं। ऐसे ही प्रार्थना-रूपी भक्तिवृत्ति को जगाने की आवश्यकता है। यह सत्य नहीं कि ज्ञानी जन प्रार्थना नहीं करते। आप अपने को पूरे वेदान्ती मानते हैं, फिर भी वेदान्तवाक्य दोहराते रहते हैं। जिस वस्तु का जिसको जितना अधिक ज्ञान होता है, वह उसे उतना ही अधिक स्मरण करता है। जितनी अधिक प्रीति परमेश्वर में बढ़ेगी उतना ही अधिक प्रकाश होगा। भाई रामसिंह जी! ऊपर से चाहे जो कहो, परन्तु जब तक आप भूख-प्यास और सुख दुःख आदि का अनुभव करते हो, तब तक आप पूर्ण नहीं हो,आपमें न्यूनता अवश्य है। अपनी न्यूनता को पूर्ण करने के लिए—तीन गुणों वाली माया से ऊपर होने के लिये—प्रार्थना आवश्यक है। (द० प्र०)

(३) हे मनुष्यो! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध नित्यबुद्ध नित्यमुक्तस्वभाव वाला, कृपासागर, ठीक ठीक न्याय करने हारा, जन्ममरणादिक्लेश-

रहित, आकाररहित, सबके घट घट का जानने वाला, सबका धर्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल-ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतन-स्वरूप है, उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजनके लिए वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हम को दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटा कर श्रेष्ठाचार सत्य मार्ग में चलावे। उसको छोड़ कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें। क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न कोई अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है। (स० प्र०)

परमेश्वर ही की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करनी चाहिए।

स्तुति प्रार्थना उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। श्रेष्ठ उस को कहते हैं, जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य सत्य व्यवहारों में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उसको परमेश्वर कहते हैं। जिसके तुल्य न कोई हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है। जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़-पदार्थ व जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं। इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक

पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य, दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की, वैसे हम सबको करना योग्य है। (स० प्र०)

परमेश्वर क्या चाहता है ?

(प्र०) परमेश्वर क्या चाहता है ?

(उ०) सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है। परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता। (स० प्र०)

(प्र०) ईश्वर में इच्छा है वा नहीं ?

(उ०) वैसी इच्छा नहीं। क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से विशेष सुख होवे, उसकी, होती है। यदि ईश्वर को कोई पदार्थ अप्राप्त, उससे उत्तम या विशेष सुख देने वाला हो तो ईश्वर में इच्छा हो सके। न उससे कोई अप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम और पूर्ण सुख युक्त होने से उसे सुख की अभिलाषा भी नहीं है, इस लिए ईश्वर में इच्छा का होना तो संभव नहीं किन्तु ईक्षण है। सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सृष्टि का करना ईक्षण कहाता है। (स० प्र०)

(प्र०) परमेश्वर रागी है वा विरक्त ?

(उ०) दोनों नहीं। क्योंकि राग अपने से उत्तम भिन्न पदार्थों में होता है, सो परमेश्वर से कोई पदार्थ उत्तम वा भिन्न नहीं, इस लिए उसमें राग का संभव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको विरक्त कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ नहीं सकता, इस लिए विरक्त भी नहीं।

परमेश्वर प्रत्यक्ष है

(१) परमात्मविषयक वेणीप्रसादजी के प्रश्नके उत्तरमें कहा—

" ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। ईश्वर सबके समीप है और प्रतिदिन सब को उपदेश देता है। जो लोग अविद्यान्धकार में ग्रस्त हैं वे उसको नहीं समझते। सोचिए; एक मनुष्य चला जा रहा है, एक मूल्यवान् वस्तु को मार्ग में पड़ा देखकर उसका जी ललचा जाता है। उसके उठाने के लिए ज्योंही वह हाथ आगे बढ़ाता है, तो उसे उसके भीतर से उपदेश मिलता है, 'एँ' ऐसा काम मत करना। यह महा अधम कर्म्म है। इसका फल अति दुःखदायक होता है।' ऐसे ही जब कोई मनुष्य परोपकारादि शुभकर्म्म करने लगता है तो उसमें उत्साह तथा हर्ष की मात्रा बढ़ जाती है। उसके अन्तःकरण में यह ध्वनि होने लगती है कि 'यह कर्म्म अत्युत्तम और सुखमय फल का देने वाला है।' यह दोनों प्रकार का उपदेश सब के अन्तरात्मा परमात्मा की ओर से होता है। यह देववाणी सब के हृदयों में गुंजायमान बनी रहती है। परन्तु इसे सुनते और समझते वे ही हैं जिनके अन्तःकरण से कालिमा का कलङ्क दूर हो गया है। ईश्वरप्रत्यक्ष में यही प्रबल प्रमाण है (द० प्र०)

(२) जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना-विशेष-आदि, ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमात्मा का भी प्रत्यक्ष है। जब आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीव की

इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से है और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। (स० प्र०)

पाप क्षमा नहीं होते

(प्र०) ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं ?

(उ०) नहीं। क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उस का न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाय। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साह-पूर्वक अधिक अधिक बड़े बड़े पाप करें क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जायेंगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं। (स० प्र०)

परमेश्वर सब का निश्चित मित्र है

जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र [है], न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है। इससे भिन्न कोई भी इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता। (स० प्र०)

परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है

(प्र०) परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं ?

(उ०) है।

(प्र०) ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं, जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय। क्योंकि न्याय उसको कहते हैं जो कर्म्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुँचाना और दया उसको कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।

(उ०) न्याय और दया का नाममात्र का ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से। दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हों। वही दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना। और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए तो दया का नाश हो जाय। क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्म्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है। जब एक को छोड़ने से सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार हो सकती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर उस को पाप करने से बचाना, डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है। (स० प्र०)

(२) देखो ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ

उत्पन्न करके दान दे रखे हैं। इस से भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है। इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मन में सब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है। दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना॥ (स० प्र०)

जीव

(पू०) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र?

(उ०) अपने कर्त्तव्य कर्म्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है।

(पू०) स्वतन्त्र किसको कहते हैं?

(उ०) जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो [जीव] स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी की और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे [यदि] परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। नरक स्वर्ग अर्थात् सुख दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्रविशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं; वैसे ही पराधीन जीव पाप पुण्य का भागी नहीं हो

सकता। इस लिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म्म करने में जीव स्वतन्त्र परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इस लिए कर्म्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

(पू०) जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सकता इस लिए परमेश्वर की प्रेरणा से ही जीव कर्म्म करता है।

(उ०) जीव उत्पन्न कभी नहीं हुआ, अनादि है; जैसा ईश्वर।......और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं। परन्तु वे सब जीव के अधीन हैं, जो मन, कर्म्म, वचन से पाप पुण्य करता है, वह भोक्ता है ईश्वर नहीं। जैसे किसी कारीगर ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उसकी दुकान से ले लोहार ने तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे का उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता किन्तु जिसने तलवार से मारा वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उसके कर्म्मों का भोक्ता नहीं होता किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म्म करता तो कोई जीव पाप नहीं करता क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इस लिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने

में स्वतन्त्र है वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है। (स० प्र०)

जीव और ईश्वर का स्वरूप

(प्र०) जीव और ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म्म और स्वभाव कैसा है ?

(उ०) दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सबको नियम में रखना, जीवों के पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्म्मयुक्त कर्म्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्यादि अच्छे बुरे कर्म्म हैं। ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं। और जीव के (इच्छा) पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा (द्वेष) दुःखादि की अनिच्छा, वैर, (प्रयत्न) पुरुषार्थ बल (सुख) आनन्द, (दुःख) विलाप, अप्रसन्नता, (ज्ञान) विवेक, पहिचानना, ...(प्राण) प्राणवायु को बाहर निकालना, (अपान) प्राण को बाहर से भीतर को लेना (निमेष) आँख को मीचना (उन्मेष) आँख को खोलना (मन) निश्चय, स्मरण और अहङ्कार करना (गति) चलना, (इन्द्रिय) सब इन्द्रियों का चलाना (अन्तर्विकार) भिन्न भिन्न क्षुधा-तृषा-हर्ष-शोकादियुक्त होना ये गुण परमात्मा से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है। जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब [जीव] शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्य्यादि

के न होने प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है। (स० प्र०)

......जो [जीव] विभु होता, तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना, कभी नहीं हो सकता। इस लिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है। इस लिए जीव और परमेश्वर का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है। (स० प्र०)

जैसे यह व्याप्यव्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है वैसे ही सेव्यसेवक, आधाराधेय, स्वामिभृत्य, राजाप्रजा और पिता-पुत्र आदि भी संबन्ध हैं। (स० प्र०)

जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं

किंचित् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ दृश्य है वैसे जल और अग्नि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती। इनमें वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म्म जैसे गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी के, और रस, द्रवत्व, कोमलत्व आदि धर्म्म जल के और रूप दाहकत्वादि धर्म्म अग्नि के होने से एकता नहीं। जैसे मनुष्य और कीड़ी आंख से देखते, मुख से खाते और पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पग और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती। जैसे परमेश्वर के अनन्त, ज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तत्व और व्यापकत्व जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, अल्पस्वरूप, सब भ्रान्तत्व और परिच्छिन्नता आदि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव

और परमेश्वर एक नहीं। क्योंकि इनका स्वरूप भी भिन्न है।

(स० प्र०)

......साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है, जैसे आकाश से मूर्त्त द्रव्य जड़ होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता; और आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप, अनन्तादि गुण और मूर्त्त के परिछिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य (व्यतिरेक) से भेद होता है। अर्थात् जैसे पृथिवी आदि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते, क्योंकि आकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उनसे अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते। जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न भिन्न देश में मिट्टी, लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं, जब घर बन गया, तब भी आकाश ही में हैं और जब वह नष्ट हो गया अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न भिन्न देश में प्राप्त हो गये तब भी आकाश में हैं। अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे और होंगे; इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न, और स्वरूपभिन्न होने से एक कभी नहीं होते। आज कल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़ के व्यतिरेकभाव से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुणनिर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य वैधर्म्य और विशेषणविशेष्य भाव न हों।

(स० प्र०)

ब्रह्मोद्योपनिषत्
या
प्रश्नोत्तरोपनिषत्

'वेद का मुख्य-विषय ब्रह्मविद्या है' ऐसा सभी ऋषि-मुनि-महात्माओं-सन्तों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अभी तक स्पष्ट और विस्तृत रूप में किसी ने न किया था। स्वामी वेदानन्दतीर्थ ने ऋषियों के इस निर्देश का मनन करके 'वेदोपनिषत्' नामक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें ब्रह्मविद्या के विभिन्न-विभागों के प्रतिपादक वैदिकसूक्तों की विस्तृत, स्पष्ट, सरल और सप्रमाण व्याख्या है। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के ४५ मन्त्र से उस अध्याय के अन्ततक ब्रह्मविद्या के संबन्ध में अनेक प्रश्न और उत्तर हैं। श्री स्वामी जी ने उनकी व्याख्या इस प्रकार से की है कि साधारण मनुष्य भी समझ जाए। यह पुस्तक अध्यात्मजिज्ञासुओं और ब्रह्मविद्या के प्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक का दूसरा संस्करण निकल चुका है। दूसरे संस्करण में व्याख्या और विस्तृत कर दी है। मूल्य ॥)

श्री प्रकाशचन्द्र मुद्रक द्वारा, दी आर्य प्रेस लिमिटेड, १७ मोहनलाल रोड, लाहौर में मुद्रित।